विचार बिन्दु

थोड़ा सा झूठ भी मनुष्य का नाश कर सकता है। –महात्मा गाँधी

उच्च शिक्षा संस्थानों को बेहतर बनाने की कवायद

विकसित भारत शिक्षा अधिष्ठान बिल, 2025 के प्रारूप पर एक संयुक्त संसदीय समिति विचार कर रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में उच्च शिक्षा के लिये एक नियंत्रक संस्था बनाने की सलाह दी गई थी। उसे बनाने के लिये ही लोकसभा में प्रस्तुत इस अधिनियम पर यह समिति विमर्श कर रही है। इस नई संस्था को 'विकसित भारत शिक्षा अधिष्ठान' नाम दिया गया है, जिसे भारत की उच्च शिक्षा व्यवस्था के नियामक ढांचे में एक नए युग की शुरुआत बताया जा रहा है और यह तर्क दिया जा रहा है कि इससे रेगुलेशन, एक्रेडिटेशन, और स्टैंडर्ड या क्वालिटी निर्धारण में नीतिगत दखल संभव होगा। यह कानून एक गुंबज के तौर पर होगा, जिसके तीन मुख्य स्तम्भ होंगे - विकसित भारत शिक्षा विनियमन परिषद् (रेगुलेटरी काउंसिल), विकसित भारत शिक्षा गुणवत्ता परिषद् (एक्रेडिटेशन काउंसिल), और विकसित भारत शिक्षा मानक परिषद् (स्टैंडर्ड्स काउंसिल)। ये तीनों परिषदें भी शिक्षा नीति 2020 में बताए गए सुझावों के मुताबिक ही हैं। नई शिक्षा नीति में एक और स्तम्भ उच्च शिक्षा अनुदान परिषद भी सुझाया गया है, जिसके बारे में बताया गया है कि सरकार बाद में फैसला लेगी। यह कानूनन बनाने के पीछे जो वजह बताई जा रही है वह है कि इससे बहुत सारी नियंत्रक एजेंसियों की ज़रूरत नहीं होगी, जिससे कम परेशानियां होंगी और अनेक नियंत्रक एजेंसियों के बीच की ओवरलैपिंग भी नहीं होगी। नये कानून से बनाई जाने वाली व्यवस्था में रेगुलेटरी नियमों का पालन कराने की जिम्मेवारी राज्य सरकारों की होगी। इसमें राज्य सरकारों का सही समर्थन पहली शर्त है। किन्तु इस बात की शिकायत हो रही है कि इस बिल में राज्य सरकारों का सही प्रतिनिधित्व नहीं है। सवाल उठाए जा रहे हैं कि इसमें राज्य सरकारों के फैसले लेने और प्रस्तावित गवर्नेंस सुधार में ज़िम्मेदारियां बांटने की भी कोई गुंजाइश नहीं है। नई व्यवस्था में एक्रेडिटेशन काउंसिल और स्टैंडर्ड्स काउंसिल के लिए, राज्य सरकारों की अपनी मर्ज़ी की गुंजाइश शायद बहुत कम रहेगी। यहां पर कागज़ पर कम्प्लायंस और जमीनी कम्प्लायंस के बीच का फ़र्क सामने आता है। यह अभी कहना कठिन है कि सुधार के इन उपायों को लागू करने के बाद उच्च शिक्षा व्यवस्था कैसे और किस हद तक बदलेगी, क्योंकि हमारे संघीय ढांचे में उच्च शिक्षा व्यवस्था बहुत जटिल स्तरों वाली और उलझी हुई है। उच्च शिक्षा व्यवस्था की प्रक्रिया में कई तरह के समझौते होते हैं। मुख्य समझौते अकादमिक स्वायत्तता और अकाउंटेबिलिटी, यूनिफ़ॉर्मिटी और डाइवर्सिटी, इक्विटी (पहुंच में) और क्वालिटी के मामले में सेंट्रलाइज़ेशन और डीसेंट्रलाइज़ेशन के बीच होते हैं। वित्तीय दिक्कतें हमेशा बनी रहती हैं। नीति निर्माताओं और भागीदारों के लिए ये समझौते आसान नहीं होते हैं। शिक्षा नीति सलाह देती है कि नियंत्रण कम होने चाहिए लेकिन जो हों उन्हें सख्ती से लागू किया जाय। इसके पीछे यह सोच है कि अधिक नियंत्रण से शिक्षक अक्सर टीचिंग और रिसर्च में क्रिएटिव और इनोवेटिव होने की अपनी कोशिशों में घुटन महसूस करते हैं। उनके लिये बहुत सारे रेगुलेशन का पालन करना एक बोझ होता है।

अकादमिक स्वायत्तता किसी भी विश्वविद्यालय की पहचान होती है। मगर भारतीय परिवेश में उसी पर सबसे अधिक हमले होते हैं। दुनिया भर में अब सार्वजनिक प्रबंधन के नए तरीके अपनाए जा रहे हैं। ऐसा टेक्निकल एफिशिएंसी पाने के लिए होता है। इसका मतलब होता है विश्वविद्यालयों द्वारा संस्थानिक स्तर पर संसाधनों का,ख़ासकर समय का, बेहतर इस्तेमाल हो। विश्वविद्यालयों की फ़ैकल्टी की अकादमिक स्वायत्तता की सीमा शिक्षक, संस्थानिक, और राष्ट्रीय तीन स्तर पर तय होती है। नई व्यवस्था से शिक्षकों पर अपने इंस्टीट्यूशनल कॉन्टेक्स्ट की परवाह किए बिना काम करने का दबाव पड़ सकता है। हालांकि नई शिक्षा नीति में सुझाया गया है कि इसे बनाने में पूरे अकादमिक समुदाय और विश्वविद्यालय प्रशासन को शामिल किया जाय। मगर बहुतों को लगता है कि संस्थागत विकास योजना बनाने और उसे लागू करने से सिस्टम नीचे से ऊपर की बजाय ऊपर से नीचे की ओर हो सकता है, जिससे शिक्षकों की स्वायत्तता बाधित हो सकती है। नियामक व्यवस्था कितनी हल्की है, यह उसके नेचर और कंटेंट पर भी निर्भर करती है। शिक्षण की ज़िम्मेदारियां मुख्य रूप से दिए जाने वाले कोर्स और कार्यक्रमों से तय होती हैं। शिक्षकों का मूल्यांकन ज़्यादातर उनकी रिसर्च के आधार पर होता है, जबकि कई संस्थानों में उनपर शिक्षण की ज़िम्मेदारियों के साथ प्रशासनिक बोझ भी उठाना पड़ता है। इससे विद्यार्थियों को मिलने शिक्षण की क्वालिटी से भी समझौता होता है। स्टैंडर्डाइज़ेशन का कॉन्सेप्ट इस तरह से बनाया गया है कि वह उच्च शिक्षा संस्थान को बनाने और चलाने के लिए स्पष्ट न्यूनतम मानक तय करने के साथ-साथ करिकुलम, पेडागॉजी असेसमेंट के इनोवेटिव डेवलपमेंट के लिए नॉन-बाईंडिंग फ्रेमवर्क बनाने की कोशिश करता है। यह बात ठीक है कि रेगुलेशन को सख्ती से लागू किया जाना चाहिए, लेकिन अगर हम उच्च शिक्षा की बड़ी तस्वीर देखें तो रेगुलेशन को कम करना इतना आसान नहीं है। हालांकि, उच्च शिक्षण संस्थाओं से मल्टीडिसिप्लिनरी ऑटोनॉमस इंस्टीट्यूशन्स के तौर पर विकसित होने का आग्रह किया जा रहा है, लेकिन, संस्थानों में ऐसा स्टेटस पाने के लिए प्रक्रिया से जुड़ी स्वायत्तता नहीं है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सुधार और उसे नई दिशा देने के लिए सबको फंडिंग के तरीके के बजाय रेगुलेशन पर अधिक भरोसा करना आसान लगता है। स्वायत्तता की गुंजाइश तभी होती है जब फंडिंग की ज़रूरतें इनपुट-बेस्ड कॉस्ट के साथ-साथ संस्थानों के फैसलों के भरोसे से तय होती हैं। अगर आउटकम-बेस्ड फंडिंग के पक्ष में झुकाव होता है, तो इसे अकाउंटेबिलिटी तय करने और ट्रांसपेरेंट तरीके से बढ़ावा देने की दिशा में एक कदम माना जाता है। इसके लिये उच्च शिक्षा संस्थाओं को उनकी क्षमता बढ़ाकर सक्षम बनाना जरूरी होता है।

उच्च शिक्षा व्यवस्था की प्रक्रिया में कई तरह के समझौते होते हैं। मुख्य समझौते अकादमिक स्वायत्तता और अकाउंटेबिलिटी, यूनिफ़ॉर्मिटी और डाइवर्सिटी, इक्विटी (पहुंच में) और क्वालिटीके मामले में सेंट्रलाइज़ेशन और डीसेंट्रलाइज़ेशन के बीच होते हैं। वित्तीय दिक्कतें हमेशा बनी रहती हैं। नीति निर्माताओं और भागीदारों के लिए ये समझौते आसान नहीं होते हैं।

नई शिक्षा नीति और विकसित भारत शिक्षा अधिष्ठान बिल में सुझाए गए संस्थानों को ऑटोनॉमस मल्टीडिसिप्लिनरी संस्थानों के तौर पर डेवलप करने में मदद करने के लिए उन्हें अकादमिक स्वायत्तता देने पर पूरा फोकस, लॉजिक और प्रैक्टिस दोनों के मामले में काफी कमजोर नींव पर आधारित लगता है। हालांकि, बिल में सही कहा है कि उच्च शिक्षा संस्थानों को यह बताना ज़रूरी होगा कि उनके पास मौजूद इनपुट का इस्तेमाल कैसे किया जाना है। लेकिन लक्ष्यों की सिर्फ सूची बना लेने से जरूरी प्रैक्टिकल सोच, सच्चाई और ईमानदारी नहीं दिखती। हालांकि, फंडिंग मैकेनिज्म को पूरी तरह से देखने के लिए, राज्यों द्वारा हायर एजुकेशन की फंडिंग और प्राइवेट फंडिंग की सीमा और तरीके को देखना होगा। हालांकि यह बिल तीन परिषदों के सपोर्ट से एक बड़ी बॉडी बनाकर मौजूदा नियामक व्यवस्था को आसान बनाने की कोशिश करता है, लेकिन असल में उच्च शिक्षा संस्थानों का मूल्यांकन कई प्राधिकरण और एजेंसियां करती रहेंगी। भले ही इनके क्राइटेरिया और मकसद अलग-अलग होंगे, फिर भी इनके काम में काफी ओवरलैप होगा। एक असरदार और डायनैमिक लीडरशिप वाली यूनिवर्सिटी को आमतौर पर कई मूल्यांकन एजेंसियों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए ह्यूमन, फाइनेंशियल और फिजिकल रिसोर्स का सबसे अच्छा एलोकेशन और इस्तेमाल पक्का करने की मुश्किलें आती हैं। ये एजेंसियां अलग-अलग वेटेज वाले इंडिकेटर्स के अलग-अलग सेट का इस्तेमाल करके उच्च शिक्षा संस्थानों का मूल्यांकन करती हैं, ताकि यूनिवर्सिटी के इनपुट और आउटपुट की क्वालिटी का आकलन किया जा सके, खासकर टीचिंग, टीचिंग-लर्निंग आउटकम, रिसर्च, आउटरीच एक्टिविटीज़, इंटरनेशनलाइज़ेशन वगैरह का। अतिरिक्त वित्तीय संसाधन जुटाने और नए कोर्स के लिए विद्यार्थियों की मांग और कौशल के लिए इंडस्ट्री की मांग को पूरा करने की ज़रूरतें यूनिवर्सिटी चलाने वालों के काम को और मुश्किल बना देती हैं।

भारतीय उच्च शिक्षा के पूरे रेगुलेटरी ढांचे में बदलाव के पीछे का तर्क सही लगता है, लेकिन बड़ा सवाल यह है कि क्या व्यवस्था इसे सही तरीके से लागू करने के लिए तैयार है? ज़्यादातर उच्च शिक्षा संस्थानों की क्षमता लगातार गिरती जा रही है। अत: ऑटोनॉमी और अकाउंटेबिलिटी, यूनिफॉर्मिटी और डाइवर्सिटी, लोकलिज़्म और ग्लोबलिज़्म के साथ-साथ सेंट्रलाइज़ेशन और डीसेंट्रलाइज़ेशन के बीच ज़रूरी ट्रेडऑफ़ का विमर्श बहुत ज़रूरी है। सेंट्रलाइज़ेशन विकसित भारत शिक्षा अधिष्ठान के कॉन्सेप्ट का ज़रूरी हिस्सा है, लेकिन यह अंदाज़ा लगाना मुश्किल है कि अलग-अलग श्रेणियों के उच्च शिक्षा संस्थान वाले संघीय ढांचे में डाइवर्सिटी को कैसे बढ़ावा दिया जाएगा और बनाए रखा जाएगा। जब तक फंडिंग नहीं बढ़ाई जाती और राज्य सरकारें कॉलेजों और यूनिवर्सिटीज़ की कैपेसिटी बनाने के लिए आगे नहीं आतीं, तब तक ज़्यादातर संस्थान शिक्षा नीति में सोचे गए मल्टी-डिसिप्लिनरी ऑटोनॉमस इंस्टीट्यूशन्स के तौर पर डेवलप होने में मुश्किल का सामना करेंगे। इसे सफल और सार्थक तरीके से लागू करने में सबसे बड़ी चुनौति शिक्षकों और छात्रों के साथ-साथ प्रशासनिक स्टाफ के उत्साही समर्थन की भी ज़रूरत होगी, क्योंकि एक उच्च शिक्षण संस्थान के कामकाजको टेक्नोलॉजी या जिसे एजुकेशन प्रोडक्शन फंक्शन कहते हैं, के जरिए सख्ती से नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। भले ही शिक्षक, छात्र और प्रशासनिक स्टाफ सभी नियमों का पालन करें, इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि वे उनका नैतिक और सार्थक तरीके से पालन करेंगे। इसके अलावा टीचिंग-लर्निंग की गुणवत्ता की कोई गारंटी नहीं है। उच्च शिक्षा में गुणवत्ता का फैसला स्कॉलर्स के समर्पण और काबिलियत तथा मानव संसाधन की क्षमता तथा गुणवत्ता पर निर्भर करता है। यह एक प्रक्रिया होती है। भारतीय उच्च शिक्षा मेंयही सबसे बड़ी चिंता का बड़ा मुद्दा लंबे समय से बना हुआ है। इसीलिए नेशनल असेसमेंट एंड एक्रेडिटेशन काउंसिल से मिलने वाले स्कोर और नेशनल इंस्टीट्यूशनल रैंकिंग फ्रेमवर्क से मिलने वाली रैंकिंग अक्सर संदेह की निगाह से देखी जाती रही है।

–अतिथि संपादक,
राजेन्द्र बोड़ा
(वरिष्ठ पत्रकार एवं विश्लेषक)

समाचार पत्रों की मेहनत, डिजिटल मीडिया का मुनाफा : यह कैसा सिस्टम?

खबर किसी की, कमाई किसी और की, तो जिम्मेदारी किसकी ?



रोटेरियन सुनील दत्त गोयल

भारत में पत्रकारिता का इतिहास केवल खबर छापने का इतिहास नहीं है। यह उस व्यवस्था के निर्माण की कहानी है जिसमें गांव, कस्बे और शहर तक संवाददाता मौजूद रहे, वर्षों तक संस्थानों ने अपना नेटवर्क खड़ा किया और पत्रकारों ने घटनाओं की जानकारी जुटाकर उसे संपादकीय जांच के बाद पाठकों तक पहुंचाया। भारतीय प्रिंट मीडिया की अपनी कमियां हो सकती हैं, लेकिन दुनिया के कई हिस्सों के मीडिया की तुलना में भारत के बड़े अखबारों की पत्रकारिता आज भी अपेक्षाकृत संयमित और संस्थागत दिखाई देती है। किसी खबर को प्रकाशित करने के पीछे रिपोर्टर, संपादक और पूरा संपादकीय तंत्र जिम्मेदारी लेता है। लेकिन डिजिटल क्रांति ने इस व्यवस्था के सामने एक नई चुनौती खड़ी कर दी है।

आज किसी घटना की खबर सबसे पहले उस अखबार की वेबसाइट पर नहीं, बल्कि Facebook, YouTube, Instagram और दूसरे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर दिखाई देती है। समस्या इन प्लेटफॉर्मों के अस्तित्व से नहीं है। समस्या उस व्यवसाय मॉडल और सूचना संस्कृति से है, जिसमें खबर की सत्यता से ज्यादा महत्वपूर्ण कई बार उसकी गति, सनसनी और वायरल होने की क्षमता बन जाती है।

एक घटना होती है और देखते ही देखते उसके अलग-अलग पहलुओं का घंटों पोस्टमार्टम शुरू हो जाता है। एक ही खबर पर दर्जनों वीडियो, लाइव कार्यक्रम, प्रतिक्रियाएं और अनुमान सामने आने लगते हैं। जांच पूरी होने से पहले निष्कर्ष बनने लगते हैं और अदालत का फैसला आने से पहले जनता की अदालत अपना फैसला सुना देती है। यहीं से टीवी और सोशल मीडिया ट्रायल का खतरा पैदा होता है।

आरुषि तलवार हत्याकांड की कवरेज इस बहस का महत्वपूर्ण उदाहरण है। गंभीर अपराध की रिपोर्टिंग मीडिया का अधिकार और जिम्मेदारी दोनों है, लेकिन किसी परिवार या व्यक्ति को लगातार संदेह, आरोप और अटकलों के बीच सार्वजनिक रूप से कटघरे में खड़ा कर देना टीवी मीडिया की जिम्मेदारी से आगे जा सकता है।

विजय माल्या का मामला भी इस बहस को दूसरे कोण से देखने का अवसर देता है। किसी कारोबारी के खिलाफ बैंकिंग देनदारी, वित्तीय अनियमितता या आपराधिक आरोपों की जांच होना एक गंभीर विषय है और इसकी रिपोर्टिंग होनी चाहिए। लेकिन आरोप और न्यायिक रूप से सिद्ध अपराध के बीच का अंतर पत्रकारिता में हमेशा कायम रहना चाहिए।

आज भी टीवी और सोशल मीडिया पर ऐसे अनेक मामले दिखाई देते हैं जहां किसी व्यक्ति, कंपनी या संस्था के खिलाफ आरोप सामने आते ही बिना सत्यता की जांच किये, खबर की जगह एक पूरा नैरेटिव तैयार हो जाता है।

असली सवाल सोशल मीडिया का नहीं, उसके मॉडल का है

हमें यह स्वीकार करना होगा कि सोशल मीडिया ने सूचना को लोकतांत्रिक बनाया है। एक सामान्य नागरिक भी अपनी बात करोड़ों लोगों तक पहुंचा सकता है। छोटे शहर का पत्रकार राष्ट्रीय दर्शकों तक पहुंच सकता है। यह लोकतंत्र के लिए सकारात्मक बदलाव है। लेकिन Facebook, YouTube, Instagram और Google जैसे बड़े डिजिटल प्लेटफॉर्म मुख्य रूप से पत्रकारिता संस्थान नहीं हैं। वे सूचना के वितरण और डिजिटल विज्ञापन की विशाल वैश्विक अर्थव्यवस्था का हिस्सा हैं। यहां एक महत्वपूर्ण असंतुलन पैदा होता है। भारत का कोई अखबार खबर जुटाने के लिए पत्रकार रखता है। जिला और तहसील स्तर पर संवाददाता रखता है। कार्यालय चलाता है। यात्रा, रिपोर्टिंग, संपादन, प्रिंटिंग और वितरण पर खर्च करता है। फिर वही खबर डिजिटल दुनिया में पहुंचती है। उस खबर को कोई सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म अपने एल्गोरिदम के माध्यम से लाखों लोगों तक पहुंचाता है। उस पर वीडियो बनते हैं, प्रतिक्रियाएं आती हैं, विज्ञापन चलते हैं और हिंसहू पैदा होता है। सवाल यह है कि मूल पत्रकारिता की लागत कौन उठा रहा है और उस सूचना से पैदा होने वाली डिजिटल अर्थव्यवस्था का बड़ा हिस्सा किसके पास जा रहा है? यह सवाल केवल भारतीय प्रिंट मीडिया के भविष्य का नहीं है। यह भारत की सूचना संप्रभुता का भी सवाल है।

विदेशी प्लेटफॉर्म, भारतीय सूचना -भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक और विशाल डिजिटल बाजार है। यहां पैदा होने वाली सूचनाएं, घटनाएं, समाचार और नागरिकों की प्रतिक्रियाएं इन वैश्विक प्लेटफॉर्मों के लिए अत्यंत मूल्यवान हैं। इसलिए सरकार को यह सुनिश्चित करने पर गंभीरता से विचार करना चाहिए कि भारत में पत्रकारिता संस्थानों द्वारा तैयार की गई मूल समाचार सामग्री का व्यावसायिक इस्तेमाल करने वाले बड़े डिजिटल प्लेटफॉर्मों के लिए

उचित attribution, licensing और revenue-sharing की व्यवस्था हो। जैसे मोबाइल टेलीकॉम नेटवर्क इंडस्ट्री में कंपनियां एक दूसरे के नेटवर्क/इंफ्रास्ट्रक्चर को इस्तेमाल करने का भुगतान करती हैं। लेकिन यहां भी सावधानी जरूरी है। सरकार को ऐसा कानून नहीं बनाना चाहिए जिससे किसी अखबार को सामान्य तथ्यों पर मालिकाना अधिकार मिल जाए। किसी घटना का तथ्य किसी एक संस्था की निजी संपत्ति नहीं हो सकता। अधिकार original reporting और उसके रचनात्मक प्रस्तुतीकरण पर होना चाहिए, न कि सार्वजनिक तथ्यों पर।

भारत को अपनी पत्रकारिता व्यवस्था की ताकत बचानी होगी

आज यदि कोई भारतीय अखबार किसी जिले में वर्षों से अपना संवाददाता नेटवर्क चला रहा है, तो उस नेटवर्क के पीछे केवल कागज और मशीन नहीं, बल्कि दशकों का निवेश और पत्रकारिता का संस्थागत अनुभव और उनकी प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता है। डिजिटल प्लेटफॉर्म के लिए यह व्यवस्था खड़ी करना जरूरी नहीं। उसे तैयार खबर मिलती है और उसका एल्गोरिदम तय करता है कि उसे किसको और क्या दिखाना है। इसलिए डिजिटल प्लेटफॉर्मों को पत्रकारिता संस्थानों का विकल्प नहीं, बल्कि वितरण माध्यम मानना अधिक उचित होगा। भारत को ऐसी नीति चाहिए जिसमें डिजिटल नवाचार भी बढ़े और पारंपरिक पत्रकारिता का आर्थिक आधार भी नष्ट न हो।

सबसे जरूरी है जिम्मेदारी - अंतत: सवाल यह नहीं है कि खबर प्रिंट में छपे या पर आए। सवाल यह है कि खबर किसने जुटाई, उसकी पुष्टि किसने की, उसे किसने संपादित किया और उसके गलत होने पर जिम्मेदारी कौन लेगा। एक पत्रकार की एक गलत रिपोर्ट किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा, परिवार और कारोबार को नुकसान पहुंचा सकती है। लेकिन सोशल मीडिया के एल्गोरिदम में वही गलत सूचना कुछ घंटों में करोड़ों लोगों तक पहुंच सकती है। इसलिए जिस माध्यम की पहुंच करोड़ों लोगों तक है, उसकी जिम्मेदारी भी उसी अनुपात में होनी चाहिए। प्रिंट मीडिया को आप उस रसोई की तरह समझिए, जहां भोजन बनाने से पहले सामग्री जुटाई जाती है, उसे साफ किया जाता है, पकाया जाता है और फिर परोसा जाता है। सोशल मीडिया कई बार उस फास्ट-फूड काउंटर जैसा हो जाता है, जहां सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह बन जाता है कि प्लेट सबसे पहले किसकी पहुंची।

समस्या फास्ट-फूड में नहीं है, समस्या तब है जब परोसने की रफ्तार स्वाद, गुणवत्ता और स्वास्थ्य से ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाए। पत्रकारिता में भी यही फर्क समझना होगा। खबर सबसे पहले पहुंचाना उपलब्धि हो सकती है, लेकिन सही खबर पहुंचाना जिम्मेदारी है। भारत को ऐसी डिजिटल व्यवस्था चाहिए जहां तकनीक खबर को तेज करे, लेकिन उसकी सत्यता और जिम्मेदारी को पीछे न छोड़े। क्योंकि एल्गोरिदम खबर को वायरल कर सकता है, लेकिन भरोसा केवल पत्रकारिता ही पैदा कर सकती है।

आज जरूरत डिजिटल दुनिया को रोकने की नहीं, बल्कि उसे जिम्मेदार बनाने की है। भारत के अखबारों ने खबर तक पहुंचने के लिए दशकों में जो नेटवर्क और भरोसा बनाया है, उसे कुछ सेकंड की वायरल दौड़ के हवाले नहीं किया जा सकता। एल्गोरिदम यह तय कर सकता है कि कौन-सी खबर कितने लोगों तक पहुंचेगी, लेकिन यह तय करने का अधिकार उसे नहीं दिया जा सकता कि सच क्या है और दोषी कौन है। भारत को ऐसी मीडिया व्यवस्था चाहिए जहां खबर की रफ्तार भी हो, तकनीक की ताकत भी हो, लेकिन पत्रकारिता की विश्वसनीयता और जवाबदेही सबसे ऊपर हो। आखिरकार, खबर सिर्फ बिकने वाला कंटेंट नहीं है, खबर समाज के भरोसे की अमानत है। और इस अमानत पर किसी विदेशी एल्गोरिदम का एकाधिकार नहीं हो सकता।

प्रिंट मीडिया को भी समय के साथ डिजिटल होना होगा, लेकिन उसकी दशकों की रिपोर्टिंग व्यवस्था को वैश्विक डिजिटल कंपनियों के मुफ्त कंटेंट-स्त्रोत में बदलने की अनुमति नहीं दी जा सकती। ब्रैकिंग न्यूज़ से शुरू हुई कहानी सुपर ब्रैकिंग, अल्ट्रा फ़ास्ट, सुपर फ़ास्ट, फर्स्ट ऑन आवर चैनल या ओनली ऑन आवर चैनल जैसे शब्दों से सनसनी पैदा करके ऐसा लगता है जैसे ख़बरें बेची जा रही हैं।

खबर केवल कंटेंट नहीं है।

खबर के पीछे पत्रकार की मेहनत, संस्थान का निवेश और समाज के प्रति एक जिम्मेदारी होती है। और लोकतंत्र में सबसे बड़ा सवाल यही होना चाहिए:-

जिसने खबर पैदा की, क्या उसे उसका उचित मूल्य मिला? और जिसने खबर करोड़ों लोगों तक पहुंचाई, क्या उसने उसकी जिम्मेदारी भी उठाई?

–रोटेरियन सुनील दत्त गोयल,
महानिदेशक, इम्पीरियल चैंबर ऑफ़ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री

"किसानों को क्या मिला ?" प्रधानमंत्री के इस प्रश्न की उन्हीं के मापदंडों पर सटीक समीक्षा



रामपाल जाट

12 नवंबर को 'किसान तक के भारत कृषि सम्मेलन-2026' में प्रधानमंत्री ने अपने उद्बोधन में "अन्न भंडारों के भरने से ही संतुष्ट होना पर्याप्त नहीं है, इससे किसानों को क्या मिला?", तत्कालीन शासकों को इस प्रश्न के माध्यम से कटघरें में खड़ा किया। पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों से अप्रभावित रहते हुए प्रधानमंत्री के इस प्रश्न की समीक्षा उनके कार्यकाल के आधार पर उनकी ही कसौटी पर करना समीचीन है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने देश की बागडोर संभालने के पहले हरित क्रांति की चर्चा करते हुए खाद्यान्न के भंडार भरने एवं भंडारण की व्यवस्था करने से तत्कालीन शासकों की संतुष्टि पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए इस उपलब्धि को अपर्याप्त बताया, जो तथ्यत: सत्य के निकट है। उनके द्वारा वर्णित उनके एक दशक के शासन के गुणगान किए जाने के औचित्य पर विचार करना भी प्रासंगिक एवं समयोचित है।

यह सही है कि वर्ष 2015-16 के बजट में कृषि नीति में उत्पादन एवं उत्पादकता के साथ किसानों की आय को भी जोड़ा गया है। इसी दिशा में वर्ष 2022 तक किसानों की आय को दोगुणा करने का संकल्प व्यक्त किया गया। इसी श्रृंखला में वर्ष 2018-19 के बजट में डॉ. एम एस स्वामीनाथन की अध्यक्षता वाले राष्ट्रीय किसान आयोग के आधार पर लागत में कम से कम डेढ़ गुणा लाभांश जोड़कर 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' के निर्धारण का प्रावधान किया गया है। संपूर्ण विश्व में लागत का अर्थ संपूर्ण लागत होता है, उसे अनदेखा कर गणना का आधार आधी-अधूरी लागत को बनाया गया। भारत सरकार की संस्था 'कृषि लागत एवं मूल्य आयोग' संपूर्ण लागत को 'सी-2' से संबोधित करता है, जिसमें आधी- अधूरी एवं संपूर्ण लागत की गणना को पृथक-पृथक दर्शाया जाता है। दूसरा विषय आय संबंधी है। 'राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय' के सर्वेक्षण के 70वें चक्र के अनुसार जनवरी 2013 से दिसंबर 2013 की अवधि में कृषि परिवारों की मासिक आय 6,426 रुपए थी, उसी संस्था के 77 वें चक्र के सर्वेक्षण में जनवरी 2019 से दिसंबर 2019 की अवधि में कृषि परिवारों की मासिक आय 10, 218 रुपए थी। इन 6 वर्षों की अवधि में आय में बढ़ोतरी 3,792 रुपए है, जो 59 प्रतिशत है। दो गुणी आय के लिए 'कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र की वार्षिक विकास दर की वृद्धि 10 प्रतिशत तक होनी चाहिए थी, उस समय तक यह वृद्धि दर तीन प्रतिशत से कम थी। डॉ. एम एस स्वामीनाथन की अनुशंसा के अनुसार तो किसानों की घर ले जाने वाली वास्तविक आय को सिविल कर्मचारियों से तुलना योग्य बनाने के लिए औसत भारित लागत पर कम से कम 50 प्रतिशत लाभांश जोड़ना चाहिए। इस लागत का आशय संपूर्ण लागत सी-2 ही है।

देशभर में वेतन भोगियों की संख्या 5 प्रतिशत से कम है, यदि इसी युक्ति को कृषि क्षेत्र में लागू किया जाए तो देश के 80 प्रतिशत की जेब में पैसा आएगा, तब 'मांग और आपूर्ति' का चक्र तीव्र गति से घूमेगा, उससे आर्थिक विकास की गति के पंख लग जाएंगे। इसकी पुष्टि के लिए जॉन मेनार्ड कीन्स सहित अनेक अर्थशास्त्रियों ने ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित किये है।

सरकार ने तो अर्थशास्त्र के इन सिद्धांतों की अवहेहना ही नहीं की, वरन् वर्ष 2007-08 से वर्ष 2022-23 तक 16 फसलों के राज्यों द्वारा अनुशंसित मूल्यों से भी कम मूल्यों पर 'न्यूनतम समर्थन मूल्यों' का निर्धारण किया है, जिससे किसानों को 2,41,436 करोड रुपए का घाटा उठाना पड़ा है। दूसरी ओर अंतरराष्ट्रीय संस्था 'आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन' (ओईसीडी) 'के आकलन के अनुसार निर्यात प्रतिबंधों, घरेलू बाज़ार नियन्त्रण नीतियों एवं 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' पर खरीद नहीं करने के कारण भारतीय किसानों को वर्ष 2000 से 2025 तक 110 लाख करोड़ की राशि से वंचित किया गया है। तब भी सरकार किसान हितेषी होने का दंभ भरती है।

ऐसा भी नहीं है कि सरकार की समझ कमजोर हो। तब भी अनेक आयोगों एवं समितियों द्वारा किसानों के हितों के संरक्षण के लिए की गई अनुशंसाओं को स्वीकार करने को सरकार तैयार नहीं है। 18 जुलाई 2022 को 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' को और अधिक प्रभावी तथा पारदर्शी बनाने, फसल विविधीकरण एवं प्राकृतिक खेती को बढ़ावा देने के लिए पूर्व कृषि सचिव संजय अग्रवाल की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया, जिसके उपसमूह ने 21 अप्रैल 2023 को 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' को 'आरक्षित मूल्य' घोषित करते हुए 'न्यूनतम समर्थन मूल्य से कम दामों में क्रय-विक्रय को रोकने हेतु न्यूनतम समर्थन मूल्य से ही नीलामी आरंभ करने' के लिए की गई अनुशंसाएं साढे तीन वर्ष व्यतीत होने के बाद भी लंबित है। इसी प्रकार वर्ष 2000 से आरंभ चिंतन-मंथन के उपरांत 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' की सुनिश्चितता की दिशा में तैयार आदर्श कृषि उत्पाद एवं पशुधन विपणन (संवर्धन एवं सरलीकरण) अधिनियम 2017 के प्रारूप का क्रियान्वयन भी लंबित है, यथा-इस प्रारूप के आधार पर राजस्थान राज्य में राजस्थान कृषि उत्पाद एवं पशुधन विपणन (संवर्धन एवं सरलीकरण) विधेयक 2018 कृषि पंत भवन की अलमारी में बंद है, 8 वर्षों में भी यह विधेयक विधानसभा तक नहीं पहुंच सका, जबकि कृषि पंत भवन से विधानसभा की दूरी 2 किलोमीटर से भी कम है। इसी प्रकार कृषि उपजों की मजबूरीवश बिक्री को रोकने के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य पर ग्राम सेवा सहकारी समितियों के स्तर पर खरीद का विस्तार करने, परिवहन व्यय में बचत को भी खाद्य सुरक्षा के लिए सहायक स्वीकार किया गया है।

किसानों की दोगुणा आय के लिए 13 अप्रैल 2016 को गठित अंतर मंत्रालयी समिति ने सितंबर 2018 में अपना अंतरिम प्रतिवेदन सौंप दिया था, जिसमें विभिन्न नीतियों, सुधारों और कार्यक्रमों के माध्यम से किसानों की आय दो गुणा करने की अनुशंसाएं की गई। जिनमें आय वृद्धि के लिए किसानों की उपजों पर लाभकारी मूल्य, पशुधन उत्पादकता में वृद्धि, उत्पादन लागत में कमी जैसे सात स्त्रोतों की चर्चा है। इसके साथ ही विभिन्न योजना एवं कार्यक्रमों में कृषि उत्पादों पर लाभकारी मूल्यों की प्राप्ति के द्वारा आय वृद्धि करने का मार्ग प्रशस्त किया गया। उस हेतु से उत्पादन लागत पर कम से कम डेढ़ गुना लाभांश जोड़कर न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारण करने, सिंचाई सुविधाओं का विस्तार करने, मृदा स्वास्थ्य कार्ड उपलब्ध कराने, कृषि एवं संबद्ध क्षेत्रों में उच्च प्रौद्योगिकी को प्रोन्नत करने, खाद्य तेलों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने, किसानों की आय के स्थिरीकरण के लिए प्राकृतिक आपदाओं के कारण कृषि में होने वाले जोखिमों की सरकार द्वारा प्रतिपूर्ति करने के लिए प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना जैसे उपायों के लिए बजटीय प्रावधान किए गए। उनके क्रियान्वयन में सरकार गंभीर नहीं होने से अपेक्षित परिणाम नहीं आ पाए।

प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना के आरंभ के पांच वर्षों में बीमा कंपनियों ने 34,000 करोड रुपए से अधिक प्राप्त किये। इस योजना में "धन किसानों का, तंत्र सरकारों का और लाभ कंपनियों का" होने से कंपनियां मालामाल हो गई और किसानों से बीमा के प्रीमियम राशि के उपरांत भी बीमा क्लैम प्राप्त करना एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने जैसा हो गया। आधे अधूरे मन से किए गए प्रयासों से इच्छित परिणाम आना संभव नहीं है। इसके लिए कृषि एवं संबद्ध क्षेत्रों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिए जाने को वर्ष 2017 के तारांकित प्रश्न संख्या 44 द्वारा भारत सरकार ने संसद में स्वीकार किया है। यह स्थिति तो तब है जब प्रधानमंत्री के उद्बोधन में कृषि भारतीय संस्कृति, परंपरा और सामाजिक जीवन की नींव है, किसानों की समृद्धि के बिना देश की समृद्धि संभव नहीं है, यही विकसित भारत के स्वप्न की आधारशिला है, जैसे तथ्यों की स्वीकारोक्ति है। इसी उद्बोधन में किसानों के सामर्थ्य का भी उ